॥ॐ॥
॥श्री परमात्मने नमः ॥
॥श्री गणेशाय नमः॥

नादबिन्दू उपनिषद

विषय सूची

॥अथ नादबिन्दूपनिषत् ॥ 3
नादबिन्दू उपनिषद 5
शान्तिपाठ 23

॥ श्री हरि ॥

॥अथ नादबिन्दूपनिषत् ॥

(ऋग्वेदीय योगोपनिषत्)

॥ हरिः ॐ ॥

वैराजात्मोपासनया सञ्जातज्ञानवह्निना ।
दग्ध्वा कर्मत्रयं योगी यत्पदं याति तद्भजे ॥

वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि॥
वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्
संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि ॥ तन्मामवतु
तद्वक्तारमवत्ववतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

हे सच्चिदानंद परमात्मन ! मेरी वाणी मन में प्रतिष्ठित हो जाए। मेरा मन मेरी वाणी में प्रतिष्ठित हो जाए। हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर! मेरे सामने आप प्रकट हो जाएँ।

हे मन और वाणी ! तुम दोनों मेरे लिए वेद विषयक ज्ञान को लानेवाले बनो। मेरा सुना हुआ ज्ञान कभी मेरा त्याग न करे। मैं अपनी वाणी से सदा ऐसे शब्दों का उच्चारण करूंगा, जो सर्वथा उत्तम हों तथा सर्वदा सत्य ही बोलूँगा। वह ब्रह्म मेरी रक्षा करे, मेरे आचार्य की रक्षा करे।

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

भगवान् शांति स्वरुप हैं अत: वह मेरे अधिभौतिक, अधिदैविक और अध्यात्मिक तीनो प्रकार के विघ्नों को सर्वथा शान्त करें ।

॥ हरिः ॐ ॥

॥ श्री हरि ॥

॥ नादबिन्दूपनिषत् ॥

(ऋग्वेदीय योगोपनिषत्)

नादबिन्दू उपनिषद

ॐ अकारो दक्षिणः पक्ष उकारस्तूत्तरः स्मृतः ।
मकारं पुच्छमित्याहुरर्धमात्रा तु मस्तकम् ॥ १॥

ॐ कार रूप हंस का 'अकार' दक्षिण पक्ष (दाहिना पंख) तथा 'उकार' उत्तर पक्ष (बायाँ पंख) कहा गया है। उसकी पूँछ ही 'मकार' है और अर्धमात्रा ही उसका शीर्ष भाग है॥ १ ॥

पादादिकं गुणास्तस्य शरीरं तत्त्वमुच्यते ।
धर्मोऽस्य दक्षिणश्चक्षुरधर्मो योऽपरः स्मृतः ॥ २॥

उस (ॐ कार रूप हंस) के दोनों पैर रजोगुण एवं तमोगुण हैं और (उसका) शरीर सतोगुण कहा गया है। धर्म (उसका) दक्षिण चक्षु है और अधर्म बायाँ चक्षु (नेत्र) कहा गया है ॥ २ ॥

भूर्लोकः पादयोस्तस्य भुवर्लोकस्तु जानुनि ।

सुवर्लोकः कटीदेशे नाभिदेशे महर्जगत् ॥ ३॥

उस (हंस) के दोनों पैरों में भूः (पृथ्वी) लोक स्थित है। उसकी जंघाओं में भुवः (अन्तरिक्ष) लोक केन्द्रित है। स्वः (स्वर्ग) लोक उसके कटिप्रदेश तथा महः लोक उसके नाभि प्रदेश में स्थित है ॥ ३ ॥

जनोलोकस्तु हृद्देशे कण्ठे लोकस्तपस्ततः ।
भ्रुवोर्ललाटमध्ये तु सत्यलोको व्यवस्थितः ॥ ४॥

उसके हृदय स्थल में जनः लोक और कण्ठ प्रदेश में तपोलोक विद्यमान है। ललाट और भौहों के मध्य में सत्य लोक स्थित है ॥ ४॥

सहस्रार्णमतीवात्र मन्त्र एष प्रदर्शितः ।
एवमेतां समारूढो हंसयोगविचक्षणः ॥ ५॥

न भिद्यते कर्मचारैः पापकोटिशतैरपि ।
आग्नेयी प्रथमा मात्रा वायव्येषा तथापरा ॥ ६॥

इस प्रकार से वर्णित सहस्रावयव युक्त प्रणवरूप हंस पर आसीन होकर कर्मानुष्ठान-ध्यान आदि में रत हंस योगी- विचक्षण पुरुष ओंकार की श्रेष्ठ विधि से मनन व चिन्तन करता हुआ सहस्रों-करोड़ों पापों से निवृत्त होकर मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है। ('अकार' नामक) प्रथम मात्रा 'आग्नेयी' कही गयी है और ('उकार' नामक) द्वितीया मात्रा 'वायव्या' कही गयी है ॥ ५-६ ॥

भानुमण्डलसंकाशा भवेन्मात्रा तथोत्तरा ।
परमा चार्धमात्रा या वारुणीं तां विदुर्बुधाः ॥ ७॥

तत्पश्चात् 'मकार' नामक यह तृतीय 'मात्रा' सूर्य मण्डल के समतुल्य है। चतुर्थ मात्रा 'अर्धमात्रा' के रूप में वारुणी कही गयी है ॥ ७ ॥

कालत्रयेऽपि यत्रेमा मात्रा नूनं प्रतिष्ठिताः ।
एष ओङ्कार आख्यातो धारणाभिर्निबोधत ॥ ८॥

इन उपर्युक्त चारों मात्राओं में से हर एक मात्रा तीन-तीन काल अथवा कला रूप है। इस प्रकार 'ॐकार' को द्वादश कलाओं से युक्त कहा गया है। धारणा, ध्यान एवं समाधि के द्वारा इसे जानने का प्रयास करना चाहिए ॥ ८ ॥

घोषिणी प्रथमा मात्रा विद्युन्मात्रा तथाऽपरा ।
पतङ्गिनी तृतीया स्याच्चतुर्थी वायुवेगिनी ॥ ९॥

प्रथम मात्रा 'घोषिणी' कही गई है। द्वितीय मात्रा का नाम 'विद्युन्मात्रा' है, तृतीय मात्रा 'पातङ्गी' और चतुर्थ मात्रा 'वायुवेगिनी' के नाम से जानी जाती है ॥९॥

पञ्चमी नामधेया तु षष्ठी चैन्द्र्यभिधीयते ।
सप्तमी वैष्णवी नाम अष्टमी शाङ्करीति च ॥ १०॥

पाँचवी मात्रा का नाम 'नामधेया' है और छठवीं मात्रा 'ऐन्द्री' के नाम से जानी जाती है। सातवीं मात्रा का नाम 'वैष्णवी' और आठवीं मात्रा 'शाङ्करी' के नाम से प्रसिद्ध है ॥ १० ॥

नवमी महती नाम धृतिस्तु दशमी मता ।
एकादशी भवेन्नारी ब्राह्मी तु द्वादशी परा ॥ ११॥

नौवीं मात्रा 'महती' तथा दसवीं मात्रा को 'धृति' (ध्रुवा) कहा गया है। ग्यारहवीं मात्रा 'नारी' (मौनी) और बारहवीं मात्रा 'ब्राह्मी' के नाम से जानी जाती है ॥ ११ ॥

प्रथमायां तु मात्रायां यदि प्राणैर्वियुज्यते ।
भरते वर्षराजासौ सार्वभौमः प्रजायते ॥ १२॥

प्रथम मात्रा में यदि साधक अपने प्राणों का परित्याग कर देता है, तो वह भारतवर्ष में सार्वभौमिक चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में प्रादुर्भूत होता है ॥ १२ ॥

द्वितीयायां समुत्क्रान्तो भवेद्यक्षो महात्मवान् ।
विद्याधरस्तृतीयायां गान्धर्वस्तु चतुर्थिका ॥ १३॥

द्वितीय मात्रा में जब साधक के प्राणों का उत्क्रमण होता है, तब वह महान् महिमाशाली यक्ष के रूप में उत्पन्न होता है। तृतीय मात्रा में

प्राण त्याग करने पर विद्याधर के रूप में और चतुर्थ मात्रा में प्राण के परित्याग करने से गन्धर्व के रूप में जन्म लेता है ॥ १३ ॥

पञ्चम्यामथ मात्रायां यदि प्राणैर्वियुज्यते ।
उषितः सह देवत्वं सोमलोके महीयते ॥ १४॥

यदि पाँचवीं मात्रा में उस के प्राणों का उत्क्रमण होता है, तो वह 'तुषित' नामक देवों के साथ निवास करता हुआ चन्द्रलोक में सम्मानित होता है ॥ १४ ॥

षष्ठ्यामिन्द्रस्य सायुज्यं सप्तम्यां वैष्णवं पदम् ।
अष्टम्यां व्रजते रुद्रं पशूनां च पतिं तथा ॥ १५॥

छठवीं मात्रा में साधक देवराज इन्द्र के सायुज्य पद को प्राप्त करता है। सातवीं मात्रा में भगवान् विष्णु के पद-वैकुण्ठ धाम को प्राप्त करता है तथा आठवीं मात्रा में पशुपति भगवान् शिव के रुद्रलोक में जाकर उनकी समीपता का लाभ प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

नवम्यां तु महर्लोकं दशम्यां तु जनं व्रजेत् ।
एकादश्यां तपोलोकं द्वादश्यां ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १६॥

नव मात्रा में महः लोक को, दसवीं मात्रा में जनः लोक (ध्रुवलोक) को प्राप्त होता है। ग्यारहवीं मात्रा में तपोलोक को और बारहवीं मात्रा में साधक शाश्वत ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है ॥ १६ ॥

ततः परतरं शुद्धं व्यापकं निर्मलं शिवम् ।
सदोदितं परं ब्रह्म ज्योतिषामुदयो यतः ॥ १७॥

इससे भी परतर (परे), श्रेष्ठ, व्यापक, शुद्ध, निर्मल, कल्याणकारी, सदैव उदीयमान वह परमब्रह्मतत्त्व है। उसी से सभी तरह की ज्योतियाँ प्रादुर्भूत हुई हैं ॥ १७ ॥

अतीन्द्रियं गुणातीतं मनो लीनं यदा भवेत् ।
अनूपमं शिवं शान्तं योगयुक्तं सदा विशेत् ॥ १८॥

जब श्रेष्ठ साधक का मन समस्त इन्द्रियों एवं सत् , रज और तम आदि तीनों गुणों से परे होकर परमतत्त्व में विलीन हो जाता है, तब वह उपमारहित, कल्याणकारी, शान्तस्वरूप हो जाता है; ऐसी उच्च स्थिति में पहुँचे हुए साधकों को योग युक्त कहा जाना चाहिए ॥ १८॥

तद्युक्तस्तन्मयो जन्तुः शनैर्मुञ्चेत्कलेवरम् ।
संस्थितो योगचारेण सर्वसङ्गविवर्जितः ॥ १९॥

उस योगयुक्त और तन्मय हुए साधक को अविद्या आदि दोषों से मुक्त और योग पद्धति से स्वस्थ (आत्मा में स्थित) होकर सभी प्रकार के आसक्ति आदि दोषों से रहित हो जाना चाहिए ॥ १९ ॥

ततो विलीनपाशोऽसौ विमलः कमलाप्रभुः ।

तेनैव ब्रह्मभावेन परमानन्दमश्नुते ॥ २०॥

इस प्रकार उसके समस्त सांसारिक बन्धनों का शमन हो जाता है। वह निर्मल, कैवल्यपद को प्राप्त कर स्वयं ही परमात्म स्वरूप हो जाता है। वह ब्रह्मभाव से परमानन्द को प्राप्त करके असीम आनन्द की अनुभूति करता है ॥ २०॥

आत्मानं सततं ज्ञात्वा कालं नय महामते ।
प्रारब्धमखिलं भुञ्जन्नोद्वेगं कर्तुमर्हसि ॥ २१॥

हे ज्ञानवान् पुरुष ! तुम सतत प्रयत्न करते हुए आत्मा के स्वरूप को समझने का प्रयास करो। उसी के सच्चिन्तन में अपने समय को लगाओ। प्रारब्ध कर्मानुसार जो भी कष्ट-कठिनाइयाँ सामने आयें, उनको भोगते हुए तुम्हें उद्विग्न नहीं होना चाहिए ॥ २१ ॥

उत्पन्ने तत्त्वविज्ञाने प्रारब्धं नैव मुञ्चति ।
तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते ॥ २२॥

देहादीनामसत्त्वात्तु यथा स्वप्नो विबोधतः ।
कर्म जन्मान्तरीयं यत्प्रारब्धमिति कीर्तितम् ॥ २३॥

आत्मज्ञान के प्रादुर्भूत होने पर भी प्रारब्ध स्वयं त्याग नहीं करता, किन्तु जैसे ही तत्त्वज्ञान का प्राकट्य होता है, वैसे ही प्रारब्ध कर्म का क्षय हो जाता है। जैसा कि स्वप्नलोक के देहादिक असत् होने के कारण जाग्रत् होने पर विलुप्त हो जाते हैं, विगत जन्मों में जो किये

हुए कर्म हैं, उन्हीं कर्मों को प्रारब्ध कर्म की संज्ञा प्रदान की गई है ॥ २२-२३ ॥

तत्तु जन्मान्तराभावात्पुंसो नैवास्ति कर्हिचित् ।
स्वप्नदेहो यथाध्यस्तस्तथैवायं हि देहकः ॥ २४॥

ज्ञानी के लिए तो जन्म-जन्मान्तर भी नहीं है। इसलिए प्रारब्ध कर्म ज्ञानी के लिए कभी भी बाधक नहीं होता। जैसे स्वप्नकालीन देह, देह नहीं होती, केवल अध्यास-मात्र ही होती है, वैसे ही यह जाग्रत् अवस्था का शरीर भी अध्यास मात्र ही है ॥ २४ ॥

अध्यस्तस्य कुतो जन्म जन्माभावे कुतः स्थितिः ।
उपादानं प्रपञ्चस्य मृद्भाण्डस्येव पश्यति ॥ २५॥

अध्यस्त (अयथार्थ) की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? और उत्पत्ति के अभाव में उस वस्तु की स्थिति कैसे होगी? इसलिए इस प्रपञ्च का मुख्य उपादान कारण आत्मा ही है। जैसे कि मिट्टी के द्वारा निर्मित पात्रों का उपादान कारण मिट्टी होती है ॥ २५ ॥

अज्ञानं चेति वेदान्तैस्तस्मिन्नष्टे क्व विश्वता ।
यथा रज्जुअं परित्यज्य सर्पं गृह्णाति वै भ्रमात् ॥ २६॥

तद्वत्सत्यमविज्ञाय जगत्पश्यति मूढधीः ।
रज्जुखण्डे परिज्ञाते सर्परूपं न तिष्ठति ॥ २७॥

वेदान्तानुसार ये सभी सांसारिक प्रपञ्च अज्ञानान्धकार के कारण आत्मा में ही प्रतिभासित होते हैं। अज्ञानरूपी अन्धकार के विनष्ट होने पर संसार की स्थिति नहीं रह जाती। जिस तरह भ्रम बुद्धि से ग्रस्त मनुष्य रज्जु बुद्धि का परित्याग कर उसे सर्प बुद्धि से ग्रहण करता है, अर्थात् रस्सी को सर्प समझने लगता है, इसी तरह अज्ञानी (मूढ़) मनुष्य सत्य (आत्मा) का ज्ञान (बोध) न होने के कारण इस भ्रम- बुद्धिवश सांसारिक प्रपञ्च का अवलोकन करता है। जब मनुष्य ठीक तरह से उस रस्सी को पहचान लेता है, तो पूर्व में दृष्टिगोचर होने वाले सर्प की भावना नहीं रह जाती ॥ २६-२७ ॥

अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपञ्चे शून्यतां गते ।
देहस्यापि प्रपञ्चत्वात्प्रारब्धावस्थितिः कृतः ॥ २८॥

जिस तरह अधिष्ठान स्वरूप आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाने पर प्रपञ्च शून्यता को प्राप्त हो जाता है, ऐसी स्थिति में देह भी प्रपञ्चरूप होने के कारण प्रारब्ध की स्थिति किस प्रकार रह सकती है? ॥ २८ ॥

अज्ञानजनबोधार्थं प्रारब्धमिति चोच्यते ।
ततः कालवशादेव प्रारब्धे तु क्षयं गते ॥ २९॥

अज्ञान से ग्रसित लोगों को बोध कराने के लिए प्रारब्ध कर्म की बात कही जाती है। तदनन्तर कालवश ही सांसारिक प्रारब्ध कर्मों का विनाश हो जाता है ॥ २९॥

ब्रह्मप्रणवसन्धानं नादो ज्योतिर्मयः शिवः ।
स्वयमाविर्भवेदात्मा मेघापायेंऽशुमानिव ॥ ३०॥

तत्पश्चात् 'ॐकार' स्वरूप ब्रह्म की आत्मा के साथ एकता के चिन्तन से नादरूप में स्वयं प्रकाशमान शिव के कल्याणकारी स्वरूप (परब्रह्म) का प्रादुर्भाव उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार बादलों के हट जाने पर भगवान् भास्कर प्रकाशित हो जाते हैं॥३०॥

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय वैष्णवीम् ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा ॥ ३१॥

योगी को सिद्धासन से बैठने के पश्चात् वैष्णवी मुद्रा धारण करनी चाहिए। तदनन्तर दाहिने कान के अन्दर उठते हुए नाद का सतत श्रवण करना चाहिए ॥ ३१ ॥

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ।
पक्षाद्विपक्षमखिलं जित्वा तुर्यपदं व्रजेत् ॥ ३२॥

इस प्रकार नाद का किया गया अभ्यास बाह्य ध्वनियों को आवृत कर लेता है, इस तरह दोनों पक्षों 'अकार' और 'मकार' को जीतकर क्रमशः सम्पर्ण ओंकार' को शनैः-शनै: आत्मसात् कर तुर्यावस्था को प्राप्त कर लेता है॥ ३२ ॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ।

वर्धमानस्तथाभ्यासे श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥ ३३॥

अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में यह महान्नाद (अनाहत ध्वनि) विभिन्न तरह से सुनायी देता है। इसके अनन्तर जब अभ्यास अधिक बढ़ जाता है, तब उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप सुनायी पड़ने लगते हैं ॥ ३३ ॥

आदौ जलधिमूतभेरीनिर्झरसम्भवः ।
मध्ये मर्दलशब्दाभो घण्टाकाहलजस्तथा ॥ ३४॥

अन्ते तु किङ्किणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनः ।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥ ३५॥

इस नाद की ध्वनि प्रारम्भिक काल में समुद्र, मेघ, भेरी तथा झरनों से उत्पन्न ध्वनि के समान सुनायी देती है। इसके बाद बीच की अवस्था में मृदङ्ग, घंटे और नगाड़े की भाँति यह ध्वनि सुनाई पड़ती है। अन्त में अर्थात् उत्तरावस्था में किङ्किणी, वंशी, वीणा एवं भ्रमर की ध्वनि के समान मधुर नादध्वनि सुनायी पड़ती है। इस प्रकार सूक्ष्मातिसूक्ष्म होते हुए नाना प्रकार के नाद सुनायी पड़ते हैं ॥ ३४-३५ ॥

महति श्रूयमाणे तु महाभेर्यादिकध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥ ३६॥

निरन्तर नाद का अभ्यास करते हुए जब भेरी आदि की ध्वनि तेजी से सुनायी पड़ने लगे, तब उसमें भी सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर नाद के सुनने का विचार करना चाहिए ॥ ३६ ॥

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ।
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥ ३७॥

वह घन नाद को छोड़कर सूक्ष्मनाद (मन्द ध्वनि) या फिर सूक्ष्म नाद का परित्याग करके घन नाद में मन को केन्द्रित करे। अन्यत्र और कहीं भी इधर-उधर मन को भ्रमित न होने दे ॥ ३७ ॥

यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।
तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा तेन सार्धं विलीयते ॥ ३८॥

साधक का मन सर्वप्रथम जहाँ-कहीं किसी भी सूक्ष्म (अतिमन्द) अथवा घननाद (अभेद्यध्वनि) में लगता है। उसको (मन को) वहीं केन्द्रित करना चाहिए। ऐसा करने से वह (चित्त) स्वयमेव तन्मय होने लगता है ॥ ३८ ॥

विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादे दुग्धाम्बुवन्मनः ।
एकीभूयाथ सहसा चिदाकाशे विलीयते ॥ ३९॥

साधक का मन सभी सांसारिक बाह्य-प्रपंचों से विस्मृत होकर दूध में मिश्रित जल की भाँति नाद में एकीभूत हो जाता है। इस प्रकार

वह (मन) नाद के साथ अकस्मात् ही चिदाकाश में स्वयं को विलय कर लेता है ॥ ३९ ॥

उदासीनस्ततो भूत्वा सदाभ्यासेन संयमी ।
उन्मनीकारकं सद्यो नादमेवावधारयेत् ॥४०॥

संयमी पुरुष को चाहिए कि नाद-श्रवण से भिन्न विषयों-वासनाओं को उपेक्षित करके सतत अभ्यास द्वारा मन को तत्क्षण ही उस नाद में नियोजित करे और सदैव चिन्तन के द्वारा उसी में रमण करता रहे ॥ ४० ॥

सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः ।
नादमेवानुसंदध्यान्नादे चित्तं विलीयते ॥४१॥

योगी साधक को चाहिए कि सतत चिन्तन करते हुए समस्त चिन्ताओं का परित्याग कर सभी तरह की चेष्टाओं से मन को हटाकर नाद का ही अनुसन्धान करे; क्योंकि चित्त का नाद में लय हो जाता है ॥ ४१ ॥

मकरन्दं पिबन्भृङ्गो गन्धान्नापेक्षते तथा ।
नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि काङ्क्षति ॥ ४२॥

जिस प्रकार भ्रमर फूलों का रस ग्रहण करता हुआ पुष्पों के गन्ध की अपेक्षा नहीं रखता है, ठीक वैसे ही सतत नाद में तल्लीन रहने वाला चित्त विषय-वासना आदि की आकांक्षा नहीं करता है ॥ ४२ ॥

बद्धः सुनादगन्धेन सद्यः संत्यक्तचापलः ।
नादग्रहणतश्चित्तमन्तरङ्गभुजङ्गमः ॥४३॥

यह चित्त रूपी अन्तरङ्ग भुजङ्ग (सर्प) नाद को सुनने के पश्चात् उस सुन्दर नाद की गन्ध से आबद्ध हो जाता है और तत्क्षण ही सभी तरह की चपलताओं का परित्याग कर देता है ॥ ४३ ॥

विस्मृत्य विश्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति ।
मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ॥ ४४॥

नियामनसमर्थोऽयं निनादो निशिताङ्कुशः ।
नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते ॥ ४५॥

अन्तरङ्गसमुद्रस्य रोधे वेलायतेऽपि च ।
ब्रह्मप्रणवसंलग्ननादो ज्योतिर्मयात्मकः ॥ ४६॥

तदनन्तर (वह मन) विश्व (सांसारिकता) को विस्मृत करके तथा एकाग्रता को धारण करके (विषयों में) इधर-उधर कहीं भी नहीं दौड़ता है। विषय-वासना रूपी उद्यान में विचरण करने वाले मन रूपी उन्मत्त गजेन्द्र को वश में करने में यह नादरूपी अति तीक्ष्ण अंकुश ही समर्थ होता है। यह नाद मनरूपी हिरण को बाँधने में

जाल का कार्य करता है और मन रूपी तरङ्ग को रोकने में तट का काम करता है। ब्रह्मरूप प्रणव में संयुक्त हुआ यह नाद स्वयं ही प्रकाश स्वरूप होता है ॥ ४४-४६ ॥

मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ।
तावदाकाशसङ्कल्पो यावच्छब्दः प्रवतते ॥ ४७॥

मन वहाँ ही विलय को प्राप्त हो जाता है। वहीं परम श्रेष्ठ भगवान् विष्णु का परम पद है। मन में आकाश तत्त्व का संकल्प तभी तक रहता है, जब तक कि शब्दों का उच्चारण और श्रवण होता है ॥ ४७ ॥

निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मा समीर्यते ।
नादो यावन्मनस्तावन्नादान्तेऽपि मनोन्मनी ॥ ४८॥

नि:शब्द होने पर तो वह परमब्रह्म के परमात्म-तत्त्व का अनुभव करने लगता है। नाद के रहने तक ही मन का अस्तित्व बना रहता है। नाद के समापन होने पर मन भी 'अमन' (शून्यवत्) हो जाता है ॥ ४८ ॥

सशब्दश्चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम् ।
सदा नादानुसन्धानात्संक्षीणा वासना भवेत् ॥ ४९॥

निरञ्जने विलीयेते मनोवायू न संशयः ।

नादकोटिसहस्राणि बिन्दुकोटिशतानि च ॥ ५०॥

सर्वे तत्र लयं यान्ति ब्रह्मप्रणवनादके ।
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः ॥ ५१॥

मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ।
शङ्खदुन्दुभिनादं च न श्रुणोति कदाचन ॥ ५२॥

सशब्द अर्थात् शब्दयुक्त नाद के अक्षर स्वरूप ब्रह्म में क्षीण (लय) हो जाने पर वह नि:शब्द परमपद कहलाता है। जब सतत नाद का अनुसन्धान करने पर समस्त विषय-वासनाएँ पूर्णरूपेण नष्ट हो जाती हैं, तदुपरान्त मन एवं प्राण दोनों संशयरहित हो उस निराकार परमब्रह्म में लय हो जाते हैं। करोड़ों-करोड़ नाद एवं बिन्दु उस ब्रह्मरूप प्रणव नाद में विलीन हो जाते हैं। वह योगी जाग्रत् , स्वप्न तथा सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओं से मुक्त होकर सभी तरह की चिन्ताओं से रहित हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह योगी मरे हुए व्यक्ति की भाँति रहता है। निश्चय ही वह योगी मुक्तावस्था प्राप्त कर लेता है और वह (योगी) शङ्ख-दुन्दुभि आदि (लौकिक) नाद का श्रवण कभी भी नहीं करता ॥ ४९-५२॥

काष्ठवज्ज्ञायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ।
न जानाति स शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ॥ ५३॥

जिस अवस्था में मन 'अमन' हो जाता है, उस अवस्था के प्राप्त होने पर शरीर लकड़ी की भाँति चेष्टारहित सा हो जाता है। वह (मन) न शीत जानता है, न गर्मी जानता है और न ही वह सुख-दुःख का अनुभव करता है ॥ ५३ ॥

न मानं नावमानं च संत्यक्त्वा तु समाधिना ।
अवस्थात्रयमन्वेति न चित्तं योगिनः सदा ॥ ५४॥

वह (योगी) मान-अपमान से परे हो जाता है। समाधि द्वारा वह इन सभी का पूर्णतया परित्याग कर देता है। योगी का चित्त तीनों अवस्थाओं-जाग्रत् , स्वप्न, सुषुप्ति आदि का कभी भी अनुगमन नहीं करता है (अर्थात् उससे परे हो जाता है) ॥ ५४॥

जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्तः स्वरूपावस्थतामियात् ॥ ५५॥

दृष्टिः स्थिरा यस्य विना सदृश्यम् वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम् ।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बम् स ब्रह्मतारान्तरनादरूपः ॥ ५६॥

इत्युपनिषत् ॥

(वह) योगी जाग्रत् और निद्रा (स्वप्न) की अवस्था से मुक्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिर हो जाता है। दृश्य वस्तु के अभाव में भी जिसकी दृष्टि स्थिर हो जाती है, बिना प्रयास के ही जिसका प्राण अपने स्थान पर सुस्थिर हो जाता है तथा बिना किसी आश्रय

अथवा अवलम्बन के ही जिसका चित्त स्थिरता को प्राप्त हो जाता है, ऐसा वह (योगी) ब्रह्ममय प्रणव नाद के अन्तर्वर्ती तुरीयावस्था (परमानंद) में सदैव स्थित हो जाता है। यही उपनिषद् है ॥ ५५-५६॥

॥हरिः ॐ॥

शान्तिपाठ

वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि॥
वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्
संदधाम्यृतं वदिष्यामि सत्यं वदिष्यामि ॥ तन्मामवतु
तद्वक्तारमवत्ववतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

हे सच्चिदानंद परमात्मन ! मेरी वाणी मन में प्रतिष्ठित हो जाए। मेरा मन मेरी वाणी में प्रतिष्ठित हो जाए। हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर! मेरे सामने आप प्रकट हो जाएँ।

हे मन और वाणी ! तुम दोनों मेरे लिए वेद विषयक ज्ञान को लानेवाले बनो। मेरा सुना हुआ ज्ञान कभी मेरा त्याग न करे। मैं अपनी वाणी से सदा ऐसे शब्दों का उच्चारण करूंगा, जो सर्वथा उत्तम हों तथा सर्वदा सत्य ही बोलूँगा। वह ब्रह्म मेरी रक्षा करे, मेरे आचार्य की रक्षा करे।

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

भगवान् शांति स्वरुप हैं अत: वह मेरे अधिभौतिक, अधिदैविक और अध्यात्मिक तीनो प्रकार के विघ्नों को सर्वथा शान्त करें ।

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

॥ इति नादबिन्दूपनिषत्समाप्ता ॥

॥ नादबिन्दू उपनिषद समात ॥

संकलनकर्ता:

श्री मनीष त्यागी

संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

www.shdvef.com

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय: ॥